**Knowledgeable Research** (An International Peer-Reviewed Multidisciplinary Journal) **ISSN 2583-6633**
**Available Online: http://knowledgeableresearch.com Vol.04, No.11, November,2025**

# भारतीय ज्ञान प्रणाली एवं आधुनिक राज्य की आवश्यकताएं

*** डॉ. विजेन्द्र कुमार यादव**
*सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग
ए.के. पी. जी. कॉलेज शिकोहाबाद फीरोजाबाद, उत्तर प्रदेश,283141

**********

**Abstract:** *प्रस्तुत शोध पत्र में तीन बातों का जिक्र किया गया है, सर्वप्रथम भारतीय ज्ञान प्रणाली के माध्यम से राज्य की अवधारणा व उसके उद्देश्यों को समझने का प्रयास किया गया है। पुनः राज्य की आधुनिक अवधारणा को सामने रखते हुए आधुनिक राज्य के रूप में भारत की विभिन्न क्षेत्रों यथा- सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सैन्य, तकनीकी, विदेश नीति, कानून व्यवस्था व पर्यावरण के संदर्भ में क्या आवश्यकता है यह समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही साथ आधुनिक भारत के विकास में भारतीय ज्ञान प्रणाली कैसे अधिकतम लाभ दे सकती है इसे भी समझने का प्रयास किया गया है।*

***Keywords:*** *भारतीय ज्ञान प्रणाली, पश्चिमी ज्ञान प्रणाली, राज्य, राष्ट्र, लोकतंत्र, विदेश नीति, अर्थव्यवस्था, राजनीतिक।*

**********

## Introduction

15वीं व 16वीं सदी में यूरोप में होने वाले पुनर्जागरण के पश्चात पश्चिमी ज्ञान प्रणाली जिस प्रकार से समृद्ध हुई और उससे उद्भूत ज्ञान ने जिस प्रकार से पूरी दुनिया को चमत्कृत किया उसकी प्रशंसा अवश्य ही की जानी चाहिए। पश्चिमी बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता ने आज पूरी दुनिया में अपना लोहा मनवाया है। वैज्ञानिक ज्ञान की तकनीकी परिणति ने आज पश्चिमी देशों को दुनिया में विकसित राष्ट्र के रूप में स्थापित किया है परंतु विकास के जिस मॉडल और जीवन जीने की जिस पद्धति को पश्चिमी विचार प्रणाली ने दुनिया के समक्ष रखा है आज उसके दुष्परिणाम भी पर्यावरण अवक्रमण, प्रदूषण, ग्लोबल वार्मिंग, आतंकवाद, वैश्विक बीमारियों, अशांति, विद्वेष, अंत हीन युद्धों, डब्ल्यूएमडी हथियारों आदि के रूप में दुनिया के समक्ष उपस्थित हैं।

वहीं दूसरी ओर चीन द्वारा अपनी ज्ञान प्रणाली को बढ़ावा देने की कोशिश हो रही है और चीन अपनी ज्ञान प्रणाली को पश्चिमी ज्ञान प्रणाली के विकल्प के रूप में देख रहा है। ऐसे में जो भारतीय ज्ञान प्रणाली 'सर्वे भवंतु सुखिनः' और 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की बात करती है तथा दुनिया को कल्याण की ओर ले जाने की बात करती है उसकी उपायदेता अवश्य ही परीक्षित की जानी चाहिए।

## भारतीय ज्ञान प्रणाली एवं राज्य की अवधारणा

समाज के सर्वोच्च संगठन के रूप में राज्य के विषय में विभिन्न विद्वानों में एवं पश्चिमी तथा भारतीय विचारधारा में समानताएं और असमानताएं दोनों पाई जाती हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा राज्य की उत्पत्ति के संबंध में पश्चिमी ज्ञान परंपरा के चारों सिद्धांतों - दैवी उत्पत्ति, शक्ति सिद्धांत, संविदा सिद्धांत और विकासवादी सिद्धांत, को मानती है।[1] प्राचीन भारत में अधिकतर संस्थाओं की उत्पत्ति दैवी ही मानी जाती थी और ज्यादातर ग्रंथों यथा - महाभारत, दीघनिकाय (महाजन सम्मत नामक एक दिव्य व आयोनिज पुरुष का प्रादुर्भाव), जैन परंपरा आदि में संविदा एवं दैवी उत्पत्ति के सम्मिलित प्रभाव से राज्य नामक संस्था का जन्म हुआ जिसकी शासन प्रणाली राजतंत्रात्मक थी।[2]

वेदों में प्रत्यक्ष रूप में राज्य के उद्देश्यों या लक्ष्यों पर विचार नहीं किया गया है, पर स्फुट उल्लेखों से पता चलता है कि शांति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय ही राज्य के मूल उद्देश्य समझे जाते थे। प्राचीन हिंदू लोग राज्य को जनहित संवर्धक संस्था के रूप में देखते थे। राजा को वरुण के समान घृत, व्रत, नियम व व्यवस्था का संरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक दुष्टों को दंड देने वाला होना चाहिए। धर्म का संवर्धन, सदाचार का प्रोत्साहन और ज्ञान का संरक्षण प्रत्येक राज्य में अच्छी तरह से होना चाहिए।[3] प्रजा की नैतिक उन्नति के साथ भौतिक उन्नति करना भी शासन संस्था का काम था। वैदिक काल से 600 ईसवी पूर्व तक प्रजा का सर्वांगीण कल्याण ही राज्य का मुख्य लक्ष्य माना जाता था।

इसके पश्चात जब राज्यशास्त्र पर ग्रंथ लिखे जाने लगे तब उनमें राज्य का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम का संवर्धन कहा गया। राज्य के उद्देश्यों में 'धर्म-संवर्धन' के होने से उसके स्वरूप के बारे में भ्रांतियां उत्पन्न हो गयीं। स्मृतिकारों ने राजा को बारम्बार वर्णाश्रम का प्रतिपालक कहकर इस भ्रांति को और भी पुष्ट कर दिया। इसी कारण वैदिक काल तथा बाद के काल में वर्ण आश्रम धर्म का प्रत्येक वर्ण तथा निवासियों से पालन करवाना राज्य का प्रमुख लक्ष्य बन गया। वर्ण- धर्म एवं उसे उद्भूत जाति प्रथा अन्याय के आधार पर अधिष्ठित हैं; इसमें ब्राह्मण को भूदेव बनकर आसमान पर चढ़ा दिया गया और शूद्र तथा चांडाल को नागरिकता व मौलिक अधिकारों से वंचित करके दासता की श्रृंखला में जकड़ दिया गया है। शूद्रों को संपत्ति रखने का अधिकार नहीं था, समान अपराध के लिए वे ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक कठोर दंड के भागी होते थे। चांडाल कुत्तों से भी बदतर समझ जाते थे। अतः राज्य ने वर्ण- धर्म का प्रतिपालक बनकर अपने को इन सब अन्यायों का प्रतिपालक व समर्थक बना दिया। उसका काम तलवार के जोर

पर निम्न वर्गों को इस अन्यायकारी वर्ण-आश्रम धर्म की श्रृंखला में जकड़े रहना था। इस प्रथा का आधार सामाजिक विषमता थी और इसमें धर्म को प्रचलित अन्यायकारी प्रथा का पर्याय बना दिया गया था। वस्तुस्थिति को आदर्श की ओर चलने के बजाए प्रचलित स्थिती को ही आदर्श बना दिया गया।[4]

राज्य की उत्पत्ति- विषयक पवित्र धरणा, दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत और अपने देश के इतिहास में पुरोहित व्यवस्था के उद्भव, जनता का वर्णों में विभाजन; इन सब बातों ने धर्म को स्थिर बनाए रखना राज्य का प्रथम कर्तव्य बनाया था। राज्य के इस दायित्व को धार्मिक भावना से प्रेरित लेखकों यथा- मनु ने ही नहीं अपितु राजनीति को लौकिक दृष्टिकोण से देखने वाले कौटिल्य जैसे अन्य लेखकों ने भी माना है। कौटिल्य का कथन है कि राजा जनता को उसके निर्धारित कर्तव्यों अर्थात धर्म से नहीं हटने देगा, जो कोई भी अपने कर्तव्यों का पालन करता है, आर्यों की प्रथाओं को मानता है और वर्ण आश्रम धर्म के अनुसार चलता है वह इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करेगा।[5] इस प्रकार कहा जा सकता है कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का इहलौकिक व पारलौकिक दोनों प्रकार का कल्याण करना था। राज्य का उद्देश्य जनता से अर्थ, धर्म, काम के संबंध में नियमों का पालन करवाना था जिससे जनता भौतिक अभ्युदय को प्राप्त करते हुए मोक्ष की ओर अग्रसर हो सके।

**राज्य की आधुनिक अवधारणा**

राज्य की आधुनिक अवधारणा पश्चिमी ज्ञान परंपरा की देन है। पश्चिमी ज्ञान प्रणाली राज्य को ऐतिहासिक विकास का परिणाम मानते हुए एक ऐसा सर्वोच्च सामाजिक संगठन मानती है जिसका निर्माण चार तत्वों - जनसंख्या, भूभाग, सरकार एवं संप्रभुता से हुआ है। 17वीं सदी तक आते-आते राज्य का उदय राष्ट्र- राज्यों के रूप में हुआ है। यद्यपि आधुनिक राष्ट्र राज्यों का विकास पश्चिमी यूरोप में 15वीं शताब्दी से ही शुरू हो गया था। 20वीं सदी में तो पूरे विश्व में राष्ट्र- राज्यों का जाल सा बिछ गया। आज विश्व के मानचित्र पर करीब 200 राष्ट्र- राज्य दिखाई देते हैं।[6] यद्यपि पश्चिम ज्ञान प्रणाली में राज्य के स्वभाव, कार्य व प्रयोजन को लेकर विभिन्न विचारधाराओं का विकास हुआ है जैसे उदारवादी, मार्क्सवादी, लोक कल्याणकारी, समाजवादी आदि। ऐसा इसलिए हुआ है क्योंकि विभिन्न विचारधाराओं का राजनीति को लेकर अपना-अपना दृष्टिकोण है। भारत में राज्य की गांधीवादी और सर्वोदयी विचारधाराओं का विकास हुआ है। आधुनिक भारत के अन्य ज्यादातर विचारकों ने राज्य को पश्चिमी ज्ञान परंपरा के दृष्टिकोण से ही समझने का प्रयास किया है।

राजनीतिक स्तर पर आज राष्ट्र- राज्य मनुष्यों के संगठन की सबसे प्रमुख इकाई है। वैसे तो राष्ट्र (Nation) और राज्य (State) दो भिन्न-भिन्न अवधारणाएं हैं। इनके भिन्न-भिन्न लक्षण हैं और ये भिन्न-भिन्न ढंग से विकसित हुई हैं। जहां राज्य राजनीतिक व भू-क्षेत्रीय इकाई है तो वहीं राष्ट्र ऐतिहासिक व सांस्कृतिक इकाई है। ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रभाव से आधुनिक युग के आरंभ से ही इन दोनों का ऐसा संयोग हुआ है कि अब इन्हें पृथक कर पाना कठिन है। इनमें से राज्य ज्यादा पुराना है। वस्तुत: राज्य संस्था अपने आरंभिक रूपों से विकसित होते-होते वर्तमान राष्ट्र- राज्य के रूप में पूरे उत्कर्ष पर पहुंची है।[7]

आधुनिक युग में राष्ट्र एवं राज्य इस प्रकार से एकाकार हो गए हैं कि आज राज्य की सीमाओं को राष्ट्रीय सीमाएं (National boundaries) कहा जाता है; राज्य के हित को राष्ट्रीय हित (National interest) कहा जाता है और विभिन्न राज्यों के परस्पर संबंधों को अंतरराष्ट्रीय संबंध (International relation) कहा जाता है। राष्ट्र- राज्य में वहां के सभी निवासी आ जाते हैं चाहे वह किसी भी जाति, धर्म, भाषा या संस्कृति इत्यादि से संबंध रखते हों। शर्त यह है कि वह अपने सामान्य इतिहास, सामान्य हित और सामान्य जीवन के महत्व के प्रति सजग हों और केंद्रीय सत्ता के प्रति निष्ठा रखते हों। वस्तुत: आधुनिक राष्ट्र राज्य का विकास मानव सभ्यता के बहुत लंबे इतिहास की परिणति है।[8]

आज लोकतांत्रिक शासन प्रणाली शासन का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप है। वैसे तो इस शासन प्रणाली के आरंभिक रूप को प्राचीन ग्रीक एवं भारत दोनों में ढूंढने की कोशिश की जा सकती है परंतु लोकतंत्र की आधुनिक अवधारणा राज्य की तरह ही यूरोपीय ज्ञान प्रणाली की ही देन है क्योंकि इसका जिस रूप में आधुनिक युग में विकास हुआ है उसके पीछे 16वीं सदी के यूरोप के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों का विशेष योगदान है। तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों में इस शासन प्रणाली का प्रसार औपनिवेशिक संपर्क और उन देशों में चलने वाले राष्ट्रीय आंदोलनों के कारण हुआ है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है।

लोकतंत्र के विषय में विचित्र बात यह है कि यह राज्य का रूप है, शासन का रूप है, समाज का रूप है और सबसे बढ़कर यह एक नैतिक विचार तथा जीवन शैली भी है। सर्वप्रथम, राज्य के रूप के अर्थ में प्रजातंत्र वहां विद्यमान होता है जहां जनता में सत्ता का वास होता है अर्थात लोगों को संप्रभुता प्राप्त होती है। यदि संविधान लोगों में संप्रभुता के वास की घोषणा करता है तथा स्वतंत्रता और समानता के वरदानों को सुनिश्चित करता है तो वह लोकतांत्रिक राज्य बन जाता है चाहे शासन का स्वरूप प्रजातांत्रिक हो या नहीं। वैसे तो यह विचित्र व्याख्या है क्योंकि इस प्रकार का भेद सैद्धांतिक आधारों पर किया जा सकता है परंतु व्यावहारिक अर्थ में प्रजातांत्रिक राज्य का आशय प्रजातांत्रिक शासन से है जो लोगों की इच्छा अनुसार होता है। सरकार का लोगों द्वारा गठन किया जाता है तथा वह उनके प्रति उत्तरदायी होती है।[9] यहीं से **जनता के जनार्दन** बन जाने की शुरुआत होती है।

**आधुनिक राज्य के रूप में भारत की आवश्यकताएं**

अब प्रश्न इस बात का उठता है कि भारत की जनता जनार्दन कैसे बनी ? जब हम इस प्रश्न पर गंभीरता पूर्वक विचार करते हैं तो पाते हैं कि औपनिवेशिक शासन की परिस्थितियों में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के परिणाम स्वरुप 15 अगस्त 1947 को जिस राज्य का जन्म हुआ और फिर जिसने 26 जनवरी 1950 को लागू संविधान के माध्यम से अपना स्वरूप व

भविष्य निश्चित किया वह जाहिर तौर पर किसी दैवीय इच्छा का परिणाम नहीं था बल्कि भारत की जनता की एक लंबी संघर्ष यात्रा का परिणाम था। भारतीय संविधान द्वारा निर्मित भारत एक संपूर्ण प्रभुत्व -संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य है। जहां जनता संप्रभु है। दूसरे शब्दों में आज का भारत एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य है। अब इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है कि आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में भारत की आवश्यकताएं क्या हैं ? आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में भारत की आवश्यकताओं को पूरा करने में भारतीय ज्ञान प्रणाली कैसे सक्षम हो सकती है इन सभी बातों पर बिंदुवार निम्नवत विचार किया गया है –

**सामाजिक क्षेत्र में**

एक लोकतांत्रिक राष्ट्र-राज्य के रूप में भारत की जरूरत है कि सामाजिक संबंधों में ऊंच व नींच बनाने वाले सामाजिक भेदभाव नहीं होने चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा की रक्षा करना राज्य की जिम्मेदारी है। जाति, धर्म, संप्रदाय में बंटे भारत में आज भी सामाजिक क्षेत्र में विभेदों को पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सका है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने इस बात पर बल दिया कि चार वर्णों पर आधारित सामाजिक ढांचे की हिंदू योजना ने ही जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता को जन्म दिया है जो कि असमानता का एक अमानवीय व चरम रूप है। अतः अस्पृश्यों की समस्याएं किसी छोटे-मोटे उपचार से हल नहीं हो सकतीं, उनके लिए तो क्रांतिकारी सामाजिक हल की आवश्यकता है और वह क्रांतिकारी सामाजिक हल जाति व्यवस्था को पूर्ण रूप में अस्वीकार करना ही हो सकता है।[10] परंपरागत ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने भारतीय इतिहास में एक ऐसी मजबूत सामाजिक प्रणाली को जन्म दिया जिसने राज्य नामक संस्था को लगातार कमजोर किया है।[11] इसी कारण भारतीय इतिहास के अध्ययन से हम पाते हैं कि मौर्य शासन के पश्चात कभी भी किसी भारतीय शासक ने भारत को उस रूप में राजनीतिक एकता प्रदान नहीं की जैसी एकता बाहरी आक्रांताओं द्वारा स्थापित की गई। ऐसा इसलिए संभव हुआ क्योंकि बाहरी आक्रांताओं, चाहे वह मुस्लिम हो या अंग्रेज, की सामाजिक संरचनाएं राज्य को कमजोर करने वाली नहीं थीं।[12]

**आर्थिक क्षेत्र में**

भारत के संविधान द्वारा भारत के नागरिकों से आर्थिक न्याय का जो वादा किया गया था संविधान के लागू होने के लगभग 75 वर्षों बाद भी यह पूरा होता दिखाई नहीं दे रहा है। आर्थिक असमानता का लगातार प्रसार हो रहा है। गरीब और अमीर के बीच की खाईं लगातार चौड़ी होती जा रही है। अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्र कृषि की हालत बेहद खराब एवं चिंताजनक बनी हुई है यद्यपि यही क्षेत्र आज भी सबसे ज्यादा रोजगार प्रदान कर रहा है। द्वितीयक क्षेत्र विनिर्माण का है जो उस प्रकार से विकसित नहीं हो पाया जैसी अपेक्षा लगातार वैश्वीकरण के बाद की परिस्थितियों में की जाती रही है। सेवा क्षेत्र की विकास दर भी थमती सी नजर आ रही है। मानव विकास सूचकांक की शुरुआत के समय भारत एवं चीन लगभग समकक्ष थे लेकिन आज लगभग साढ़े तीन दशक का समय व्यतीत हो जाने पर यह समझने की बिल्कुल जरूरत है कि चीन ने ऐसा क्या किया है जिसके चलते वह अपने मानवीय संसाधनों का प्रयोग हमसे बेहतर तरीके से करने में सक्षम हो सका है। आज भारत चीन के मुकाबले विकास के रास्ते पर काफी पिछड़ चुका है, आखिर ऐसा क्यों हुआ ?[13]

सवाल इस बात का है कि क्या भारत का सामाजिक ढांचा आधुनिक आर्थिक जरूरत को पूरा करने में सक्षम है ? आधुनिक आर्थिक जरूरत के हिसाब से ब्राह्मणवादी जाति-व्यवस्था से खराब और किसी व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती है। आधुनिक श्रम बाजार इस बात की मांग करता है कि अपनी परिस्थिति को अच्छा बनाने हेतु प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे वातावरण की जरूरत है जहां वह शिक्षा व कौशल में निवेश हेतु सक्षम हो, साथ ही उसे श्रम बाजार में चयन स्वातंत्र्य (Freedom of Choice) और अनुबंध की स्वतंत्रता (Freedom of Contract) भी प्राप्त हो लेकिन जाति व्यवस्था में व्यक्ति को उपयुक्त अवसर नहीं मिल पाते क्योंकि जाति व्यवस्था में व्यक्ति अपने जातीय पेशे को अपनाने हेतु बाध्य होता है। डॉ. बी. आर. अंबेडकर ने भी बार-बार इस बात की ओर संकेत किया है कि जाति व्यवस्था के चलते व्यक्ति अपनी क्षमताओं का अधिकतम लाभ लेने की स्थिति में नहीं पहुंच पाता। जो बातें आधुनिक अर्थशास्त्र के हिसाब से अतार्किक प्रतीत होती हैं वही बातें किसी ऐसे व्यक्ति को तार्किक प्रतीत हो सकती हैं जो ब्राह्मणवादी धर्म के प्रारंभिक आधारों को स्वीकार करता है। ऐसा इसलिए संभव होता है क्योंकि पूरी जातीय, वर्ण व्यवस्था को इस प्रकार से पेश किया गया है जैसे कि व्यक्ति की प्राथमिकताएं भौतिक जगत के हिसाब से नहीं वरन पराभौतिक जगत को ध्यान में रखकर तय होनी चाहिए।[14]

**राजनीतिक क्षेत्र में**

भारतीय संविधान का दर्शन कहता है कि राजनीतिक क्षेत्र में मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई मनमाना विभेद नहीं किया जाएगा। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी संपत्ति एवं शिक्षा पर ध्यान दिए बिना राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने का अधिकार होगा। 'एक व्यक्ति एक मत' और 'सार्वजनिक वयस्क मताधिकार' के सिद्धांतों को अपनाते हुए इस बात की अपेक्षा की गई है कि प्रत्येक 5 वर्ष के पश्चात संघ व राज्य विधान मंडलों के प्रतिनिधि जनता के मत से निर्वाचित होंगे।[15]

व्यावहारिक जगत में जब हम संविधान के उपर्युक्त आदर्श की वास्तविक हकीकत को परखते हैं तो हमें एक निराशाजनक तस्वीर प्राप्त होती है। नि:संदेह जनता को चुनने के अधिकार एवं चुने जाने के अधिकार तो प्राप्त हैं लेकिन भारत की जनता आज भी अपनी गरीबी, अशिक्षा, धार्मिक-जातीय पूर्वाग्रहों, भ्रष्टाचार, महंगी और भ्रष्ट चुनाव प्रणाली के कारण वास्तविक अर्थों में राजनीतिक न्याय की प्राप्ति नहीं कर सकी है। जबकि एक सफल लोकतंत्र की आवश्यक शर्त है कि जनता गरीब न हो ताकि कोई भी पार्टी या नेता लालच देकर, उसे बहका कर उसका मत न ले सके। सफल लोकतंत्र की दूसरी आवश्यक शर्त है कि जनता शिक्षित हो और अपने अधिकारों को समझती हो।

भारत में धार्मिक-जातीय पूर्वाग्रहों ने ऐतिहासिक काल से आज तक एक मजबूत राज्य प्रणाली को जन्म नहीं लेने दिया है।[16] भारत की सामाजिक संरचना ने कभी भी अखिल भारतीय स्तर के किसी ऐसे राज्य को जन्म नहीं लेने दिया जहां पर धार्मिक व पराभौतिक जगत के नियमों से हटकर शासन चलाने की कोशिश की गई हो। यह श्रेय निश्चित रूप से अंग्रेजों को प्राप्त हुआ जिन्होंने भारत को एकीकृत करते हुए कानून के शासन की स्थापना का प्रयास किया।[17] भ्रष्टाचार तथा महंगी व भ्रष्ट चुनाव प्रणाली ने भारत को वास्तविक अर्थों में लोकतंत्र नहीं बनने दिया है। इसी कारण देश दशकों से अक्षम नेताओं और अकुशल राजनीतिज्ञों के जाल में फंसा हुआ है और जनता जिसके लिए राजनीति को विकास का जरिया बनना था वह आज तक संभव नहीं हो सका। भारत में राजनीति आज कुछ लोगों, वर्गों और राजनीतिक दलों के लिए शक्ति प्राप्ति का साधन बनकर रह गई है। देश का बौद्धिक वर्ग भी अपने जातीय, धार्मिक, वैचारिक पूर्वाग्रहों में फंसा हुआ है ऐसे में उससे भी पथ-प्रदर्शक की भूमिका बेमानी सी लगती है।

**विदेश नीति के क्षेत्र में**

किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति मुख्य रूप से कुछ सिद्धांतों, हितों व उद्देश्यों का समूह होती है, जिनके माध्यम से वह राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंध स्थापित करके उन सिद्धांतों की पूर्ति करने हेतु कार्यरत रहता है।[18] किसी भी देश की विदेश नीति एक विशिष्ट आंतरिक व वाह्य वातावरण के स्वरूप द्वारा काफी हद तक निर्धारित होती है। इसके अतिरिक्त इतिहास, विरासत, व्यक्तित्व, विचारधाराएं, विभिन्न संरचनाओं आदि का प्रभाव भी इस पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भारतीय विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्यों एवं सिद्धांतों को जब हम ऐतिहासिक संदर्भ में समझने की कोशिश करते हैं तो हम पाते हैं कि कई विशेषज्ञ इसकी उत्पत्ति भारतीय संस्कृति में प्रचलित दो परंपराओं से मानते हैं।[19] यह दो महत्वपूर्ण परंपराएं इस प्रकार हैं - प्रथम विचार प्रवाह है - मित्रता, सहयोग एवं शांति, विश्व-बंधुत्व, अहिंसा का; जिसका विकास अशोक, महात्मा बुद्ध व गांधी के विचारों के रूप में हुआ है। यहां साध्य के साथ साधनों की पवित्रता पर भी बल दिया गया है। दूसरी विचारधारा-पाश्चात्य विचारकों, विशेष कर मेकियावेली की विचारधारा से मेल खाती हुई, कौटिल्य की परंपरा रही है। यहां यथार्थवाद व शक्ति के महत्व पर बल देते हुए अंतिम साध्य की प्राप्ति हेतु किसी भी साधन के औचित्य को सही माना गया है।[20]

भारतीय विदेश नीति की उत्पत्ति पर इतने प्राचीन प्रभाव की निरंतरता पर प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है। इसीलिए वास्तविक रूप में कांग्रेस की भूमिका व स्वतंत्रता आंदोलन के अनुभवों को ही आज की विदेश नीति की मुख्य पृष्ठभूमि माना जा सकता है।[21] इसी काल में होने वाले घटनाक्रम के आधार पर वर्तमान विदेश नीति का विकास मानना सत्य के अधिक निकट होगा।[22] अतः स्वतंत्र भारत की विदेश नीति की जड़े उन प्रस्तावों व नीतियों में ढूंढी जा सकती हैं, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने स्थापना के 62 वर्षों में महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय विषयों पर अपनाई थी।[23]

विदेश नीतियों एवं अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में जहां वर्तमान में पश्चिमी विचार-परम्परा का वर्चस्व दिखाई देता है वहीं दूसरी ओर हम पाते हैं कि पश्चिम की अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन की यह ज्ञान-परम्परा अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन की भारतीय ज्ञान- परंपरा की अपेक्षा बहुत नवीन है। भारत में वैदेशिक संबंधों का अध्ययन प्राचीन काल से ही बहुत गंभीरता के साथ होता रहा है। विदेशी राज्यों के साथ संबंधों के विषय में शुरुआती जानकारी नीति व स्मृति ग्रन्थों तथा महाभारत में पाई जाती है। यत्र-तत्र बिखरे हुए विचारों का परिष्कार करते हुए कौटिल्य ने वैदेशिक राज्यों से संबंध के विषय में अपने जो विचार व्यक्त किये वे न केवल तत्कालीन यूनानी विचारकों यथा- प्लेटो, अरस्तु के विचारों से आगे थे बल्कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में आज भी कौटिल्य के विचारों की प्रासंगिकता लगातार बनी हुई है। लेकिन वर्तमान वैश्विक परिदृश्य की जटिलता को देखते हुए केवल कौटिल्य के सुझावों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यद्यपि कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित मंडल सिद्धांत, विभिन्न प्रकार के उपायों एवं षाड्गुण्य नीति की कमोबेश प्रासंगिकता आज भी है और आगे भी बनी रहेगी। परंतु भारतीय विदेश नीति के समक्ष जिस प्रकार की भू राजनीति से जुड़ी क्षेत्रीय चुनौतियां, आर्थिक व व्यापारिक चुनौतियां आंतरिक व वाह्य सुरक्षा चुनौतियां, विभिन्न क्षेत्रों में-पर्यावरण, महामारियों, साइबर सुरक्षा के क्षेत्र में चुनौतियां विद्यमान हैं उसके लिए केवल परंपरागत भारतीय ज्ञान प्रणाली पर भरोसा नहीं किया जा सकता।

**सैन्य एवं तकनीकी क्षेत्र में**

किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा उसका सर्व प्रमुख एवं प्रथम दायित्व है। किसी राष्ट्र की सुरक्षा की जिम्मेदारी वहां की सेना की होती है और चूंकि शक्ति एक सापेक्ष अवधारणा है अतः सेना एवं तकनीकी क्षमता को सदैव उन्नत किया जाना अति आवश्यक होता है। जिस देश की सैन्य तकनीकी क्षमता जितनी उन्नत होती है उस सेना के जीतने की एवं सुरक्षा की गारंटी की क्षमता उतनी अधिक होती है। ऐतिहासिक उदाहरणों के माध्यम से देखा जा सकता है कि यह बात सर्वत्र एवं हमेशा सत्य सिद्ध होती रही है।

शांति काल में जो राजनीति राष्ट्रों के मध्य कूटनीति के माध्यम से संचालित होती है वही अशांति काल में युद्ध के माध्यम से संचालित होती है। इसीलिए युद्ध को रक्तरंजित राजनीति कहा जाता है। वर्तमान में युद्ध को शांति के उपाय के रूप में भी देखा जाता है और माना जाता है कि युद्ध का उद्देश्य विध्वंस नहीं है। जब हम युद्धों को भारतीय ज्ञान प्रणाली के माध्यम से समझने की कोशिश करते हैं तो स्पष्टतः कहा जा सकता है की युद्ध का प्रयोग सीमा विस्तार के रूप में नहीं किया जा सकता जैसा कि विभिन्न भारतीय शास्त्रों में इसकी चर्चा की गई है। वहीं आज जिस प्रकार की सैन्य एवं तकनीकी चुनौतियां देश के समक्ष हैं उसे ध्यान में रखते हुए परंपरागत भारतीय ज्ञान प्रणाली पर भरोसा नहीं किया जा सकता है क्योंकि आज युद्ध का स्वरूप पूर्ण रूप से बदल चुका है। वर्तमान में देश के सम्मुख इस क्षेत्र की चुनौतियों को निम्नवत गिनाया या जा सकता है- 1. आयात पर अत्यधिक निर्भरता 2. अनुसंधान एवं विकास पर कम खर्च 3. तकनीकी अंतराल 4. पुराने हथियार 5. ब्यूरोक्रेसी की अक्षमता एवं निष्क्रियता 6. युद्ध

का निरंतर बदलता स्वरूप 7. आंतरिक व गैर परंपरागत चुनौतियां 8. मानवीय शक्ति की अकुशलता 9. राजनीतिक भ्रष्टाचार।

**कानून व्यवस्था के क्षेत्र में**

शांति व सुव्यवस्था की स्थापना करते हुए लोगों के जान-माल की सुरक्षा करना अनादिकाल से राज्य का प्रथम दायित्व रहा है। शांति व व्यवस्था भंग करने वालों के लिए दंड का विधान भारतीय ज्ञान परंपरा में बहुत गंभीरता के साथ किया गया है। दंड के बहुविधि प्रयोग को लेकर ही दंड-नीति, जिसे आधुनिक संदर्भों में राजनीति कहा जाता है, की चर्चा बारंबार भारतीय ज्ञान परंपरा में हुई है। भारतीय ज्ञान प्रणाली में वर्णित नैतिक मूल्यों का आज भी बराबर महत्व बना हुआ है। उदाहरण के लिए हम 'यम' की चर्चा कर सकते हैं जिसे बौद्ध परंपरा में पंचशील, जैन परंपरा में पंचमहाव्रत और मनु द्वारा सामासिक धर्म बताया गया है। आत्माभिगामिक धर्म के रूप में यम के अंतर्गत- सत्य, अहिंसा,अस्तेय,अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की चर्चा की गई है। इनके पालन हेतु अन्य पर निर्भर नहीं होना होता है। आत्म-अनुशासन के रूप में यदि इसे समाज स्वीकार कर ले तो स्वत: ही समाज की तमाम बुराइयों व अपराधों का समाधान हो जाएगा।

**पर्यावरण के क्षेत्र में**

पश्चिमी ज्ञान प्रणाली द्वारा उद्भूत ज्ञान की तकनीकी परिणति ने पश्चिमी देशों को विकसित राष्ट्र के रूप में तो स्थापित किया है लेकिन पश्चिमी विकास मॉडल एवं जीवन कला ने दुनिया को पर्यावरण अवक्रमण, प्रदूषण, ग्लोबल वार्मिंग, आतंकवाद, महामारियां, अशांति, विद्वेष, अंतहीन युद्ध, डब्ल्यूएमडी हथियार भी दिए हैं। पश्चिमी विकास मॉडल ने दुनिया को एक बंद गली में धकेल दिया है जहां से मानवता का आगे का रास्ता दिखाई नहीं देता है। वहीं दूसरी और भारतीय ज्ञान प्रणाली ने जिस जीवन पद्धति एवं सहधर्मिता का मूल्य विश्व के सामने रखा है, वहीं से ही वर्तमान वैश्विक समस्याओं का हल निकल सकता है। भारतीय ज्ञान परंपरा हमेशा प्रकृति के संरक्षण की बात करती है। दूसरे शब्दों में प्रकृति भारतीय ज्ञान परंपरा की सहचारी है। प्रकृति के बिना भारतीय ज्ञान परंपरा का अस्तित्व संभव ही नहीं हो सकता और भारतीय ज्ञान परंपरा का अनुसरण ही प्रकृति को संरक्षित कर सकता है।

**निष्कर्ष**

यद्यपि पश्चिमी ज्ञान प्रणाली ने दुनिया को बेहतर शासन प्रणालियां प्रदान की हैं। पश्चिमी ज्ञान प्रणाली द्वारा उद्भूत ज्ञान के तकनीकी रूपांतरण ने विश्व को एक नई ऊर्जा, उत्साह व जीवन कला दी है। पश्चिमी ज्ञान परंपरा का ही कमाल है कि आज दुनिया एक वैश्विक गांव बन गई है परंतु पश्चिमी ज्ञान प्रणाली ने जैसी दुनिया का निर्माण किया है वहां से संपूर्ण मानवता का भविष्य अंधकार पूर्ण दिखाई देता है। पश्चिमी ज्ञान परंपरा ने विश्व में मानवीय मूल्यों को निर्जीव बना दिया है। पश्चिमी ज्ञान परंपरा पर आधारित विश्व सभ्यता की कार्ययोजना ने हमें इतिहास, सभ्यता एवं संस्कृति से काट दिया है। आज हम अपनी सभ्यता व संस्कृति के अनुरूप ज्ञान का उत्पादन नहीं कर पा रहे हैं। फिर भी भारतीय ज्ञान प्रणाली सदैव क्षैतिजवत विस्तार कर रही है। ज्ञान परंपरा ही संस्कृति के रूप में अनूदित या सांस्थानिक होती है। भारतीय ज्ञान परंपरा की चेतना एकात्मक और धाराएं बहुलवादी हैं। किसी ज्ञान प्रणाली के स्वरूप व अभिव्यक्ति की युगलबंदी ही उसके प्राथमिक मूलभूत सिद्धांतों (First Principles) का निर्माण करती है। भारतीय ज्ञान प्रणाली के प्राथमिक सिद्धांत ही उसके विश्व दृष्टिकोण को निर्धारित करते हैं। भारतीय ज्ञान प्रणाली के प्राथमिक सिद्धांतों को निम्नवत व्यक्त किया जा सकता है-

1. इस ब्रह्मांड में जीवन की एकता एवं चैतन्य की एकात्मकता है।

2. सभी कुछ चैतन्य की अभिव्यक्ति है।

3. जीवन एक प्रवाह है।

4. प्रत्येक जीव की सहज प्रवृत्ति उच्च कायांतरो की तरफ होनी चाहिए।

5.संपूर्ण ब्रह्मांड अपने आप में एक नैतिक व्यवस्था है।

वैदिक दृष्टि -'रित' की अवधारणा ही वह शाश्वत नियम है जिससे ब्रह्मांड संचालित है। इसे हमारे ऋषियों ने पहचाना था। इसमें लय एवं छंदबध्दता है। यही विश्व व्यवस्था का नियामक एवं धारक है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली की 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की दृष्टि ही इसमें विश्व दृष्टि बनने की संभावना तथा प्रासंगिकता पैदा करती है। भारतीय ज्ञान प्रणाली चेतना के दो धरातल- वाह्य और आंतरिक की बात करती है। अपरा विद्या का विकास वाह्य धरातल पर होता है। 'मैं कौन हूं'; इसका संबंध चेतना के आंतरिक धरातल से है और यही हमारा नजरिया बदल देता है। भारतीय ज्ञान प्रणाली जिस सांस्कृतिक दृष्टि का निर्माण करती है वहां दो प्रकार की सिद्धियों - स्वरूप सिद्धि एवं लोक सिद्धि की बात होती है। वहीं विश्व की अन्य ज्ञान दृष्टियां केवल लोक सिद्धि की बात करती हैं। भारतीय ज्ञान प्रणाली के अनुसार जीवन अनादि है लेकिन अनंत नहीं और जीवन का लक्ष्य स्वरूप सिद्धि है। जीवन का विकास त्रिवर्ग से निर्वाण की ओर होना चाहिए। जहां स्वरूप सिद्धि का साधन योग और लक्ष्य मोक्ष है वहीं लोक सिद्धि का साधन यज्ञ (यज्ञ भाव से जीवन जीना) और लक्ष्य अभ्युदय है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली के नैतिक मूल्यों में ही वह क्षमता है जिससे एक ऐसे विश्व का निर्माण संभव हो सकेगा जहां 'सर्वे भवंतु सुखिनः……..' का स्वप्न साकार हो सकेगा। पश्चिमी ज्ञान प्रणाली के लोकतंत्र, समानता, स्वतंत्रता जैसे मूल्यों और वैज्ञानिक ज्ञान तथा सैन्य, तकनीकी क्षमता को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान को भारतीय ज्ञान प्रणाली का अभिन्न हिस्सा माना जाना चाहिए। इसके बाद हम कह सकते हैं कि भारतीय ज्ञान परंपरा की विश्व दृष्टि को समय के अनुरूप उभारने एवं निखारने की महती आवश्यकता है क्योंकि भारतीय ज्ञान प्रणाली में ही वह सामर्थ्य व दमखम दिखाई देता है जो विश्व में मानव सभ्यता के भविष्य को उज्ज्वल बना सके।

**References:**

1. डॉ. परमात्मा शरण (2005), प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ,पृ. सं. 259-60 ।
2. प्रो. ए. एस. अलतेकर (2003), प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ.सं. 19-30 ।
3. न में स्तेनो जनपदके न कार्यो न मद्यपी मानाहिताग्निर्वाविद्वान्न स्वैरी स्वेरणी कुत:। छान्दोग्योपनिषद, 5.11.5 ।
4. प्रोफेसर ए. एस. अलतेकर, पृष्ठ संख्या 35- 36 ।
5. डॉ. परमात्मा शरण (2005), पृष्ठ संख्या 288 ।
6. ओमप्रकाश गाबा (2007), राजनीतिक सिद्धांत की रूपरेखा, मयूर पेपर वैक्स, नोएडा, पृष्ठ संख्या 117 ।
7. वही, पृष्ठ संख्या 117 ।
8. वही, पृष्ठ संख्या 125 ।
9. जे.सी. जौहरी और सीमा जौहरी (2008), आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के सिद्धांत, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 343- 44 ।
10. डॉ. पुखराज जैन (1996), भारतीय राजनीतिक चिंतन, साहित्य भवन पब्लिकेशंस, आगरा, पृष्ठ संख्या 254 ।
11. जोइल मिग्दल, स्ट्रांग सोसाइटीज एंड वीक स्टेटस: स्टेट-सोसाइटी रिलेशन एंड स्टेट कैपेबिलिटीज इन द थर्ड वर्ल्ड ( प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1988) ।
12. फ्रांसिस फुकुयामा(2011), द ओरिजिन ऑफ़ पोलिटिकल ऑर्डर, प्रोफाइल बुक लिमिटेड, लंदन, पृष्ठ संख्या 175-188 ।
13. ज्यां द्रेज, अमृत सेन (2020), भारत और उसके विरोधाभास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 31-32 ।
14. फ्रांसिस फुकुयामा (2011), पृष्ठ संख्या 164 ।
15. डॉ .दुर्गा दास बासु (2010), भारत का संविधान-एक परिचय, लेक्सिस नेक्सिस बटरवर्थ्स बाधवा, नागपुर, पृष्ठ संख्या 24 ।
16. फ्रांसिस फुकुयामा (2011), पृष्ठ संख्या 167 -174 ।
17. वही, पृष्ठ संख्या 175-185 ।
18. आर. एस. यादव; ट्रेंड्स इन द स्टडीज आन इंडियाज फॉरेन पॉलिसी, इंटरनेशनल स्टडीज, वॉल्यूम 30, अंक 1,जनवरी-मार्च,1993 ,पृष्ठ संख्या 53 ।
19. विस्तृत विवरण हेतु देखिए, बुद्धप्रकाश, इंडिया एंड द वर्ल्ड, होशियारपुर तथा विशेश्वर प्रसाद, ऑवर फॉरेन पॉलिसी लिगेसी; ए स्टडी ऑफ ब्रिटिश इंडियन फॉरेन पॉलिसी, नई दिल्ली,1965;एवं फाउंडेशन ऑफ इंडियाज फॉरेन पॉलिसी, नई दिल्ली, 1967 ।
20. आर. एस. यादव (2013), भारत की विदेश नीति, पियर्सन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 09 ।
21. विस्तृत विवरण हेतु देखिए, विमल प्रसाद, ओरिजिन ऑफ़ इंडियाज फॉरेन पॉलिसी: द इंडियन नेशनल कांग्रेस एण्ड वर्ल्ड अफेयर्स,1885-1947,कलकत्ता,1962; तथा एन.वी. राजकुमार (संपादक), द बैकग्राउंड ऑफ़ इंडिया'एस फॉरेन पॉलिसी नई दिल्ली, 1952 ।
22. आर.एस. यादव, 'ट्रेंड्स इन द स्टडी ऑफ़ इंडिया'एस फॉरेन पॉलिसी', इंटरनेशनल स्टडीज, वॉल्यूम 3, अंक 1, जनवरी-मार्च 1993, पृष्ठ संख्या 62 ।
23. शीला ओझा, भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन, जयपुर, 1992, पृष्ठ संख्या 3 ।

*Corresponding Author: Vijendra Kumar Yadav
E-mail: vijendrakyadav786@gmail.com
Received: 14 October,2025; Accepted: 26 November,2025. Available online: 30 November, 2025
Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)
This work is licensed under a Creative Commons Attribution-Noncommercial 4.0 International License